

Dr. Sudhir Kumar Singh

Principal

Rohtas Mahila college

Sasaram

B. A. (Hons.) Part 1

Paper 1st - samajshaastra k siddhant

Topic- सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत

सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या समाजशास्त्रियों ने कतिपय सिद्धांतों के संदर्भ में की है। महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को हम किस उपागम से देखते हैं। यह उपागम ही सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत है। उदाहरण के लिये इतिहासकार टोयनबी या समाशास्त्री सोरोकनी जब सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते हैं तो उन्हें लगता है कि परिवर्तन तो एक चक्र की तरह है। ठीक ऐसे ही जैसे बाल्यावस्था आती है, युवावस्था आती है और अन्त में वृद्धावस्था के बाद शरीर समाप्त हो जाता है।

सामाजिक परिवर्तन को मार्क्सवादी इस संदर्भ में नहीं देखते। वे मानते हैं कि परिवर्तन का बुनियादी आधार आर्थिक संगठन है। इस भांति देखें तो लगेगा कि सामाजिक परिवर्तन एक उपागम है जिसे

विभिन्न सिद्धांतों में बांधा गया है। इस संबंध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण के कई सिद्धांत हैं। इन सिद्धांतों में सभी सिद्धांत पूर्ण हो, ऐसा कुछ नहीं है। देखा जाये तो कोई भी सिद्धांत अपने आप में पूर्ण नहीं है प्रत्येक में कुछ न कुछ अभाव, कमजोरी है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए एंथोनी गिडेन्स तो कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन के जितने भी सिद्धांत हैं उन्हें दो वृहद श्रेणियों में रखा जा सकता है :

उद्विकासवाद से जुड़े सिद्धांत

ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुड़े सिद्धांत

उद्विकास से जुड़े हुए सिद्धांत वस्तुतः प्राणिशास्त्रीय परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन से जोड़ने वाले हैं और ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुड़े हुए सिद्धांत मौलिक रूप से वे हैं जिन्हें कार्ल मार्क्स ने रखा है। मार्क्स के बाद भी मार्क्सवादी सिद्धांतवेत्ताओं ने ऐतिहासिक भौतिकवाद को उसके विभिन्न स्वरूपों में रखा है। यहां हम सामाजिक परिवर्तन के इन दो श्रेणियों में बंटे हुए सिद्धांतों का विश्लेषण करेंगे। उद्विकासीय सिद्धांतों की यह श्रेणी बहुत व्यापक है। इसके अन्तर्गत चार सिद्धांत आते हैं :-

सामाजिक डार्विनवादी सिद्धांत

चक्रीय सिद्धांत

एक रेखीय एवं बहुत रेखीय उद्विकास सिद्धांत

पारसंस का उद्विकास सिद्धांत

सामाजिक परिवर्तन के सामाजिक डार्विनवादी सिद्धांत

सिद्धांतों के इस सम्प्रदाय में कई सिद्धान्तवेत्ता सम्मिलित हैं। इनमें मुख्य रूप से हरबर्ट स्पेन्सर, डार्विन, मेण्डल, हेनरीमेन आदि के नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन सिद्धांतों का केन्द्रीय बिन्दु समाज का उद्विकास है लेकिन व्यावहारिक रूप से ये सिद्धांत उन्नति के द्योतक हैं। वास्तविकता यह है कि 19वीं शताब्दी के उद्विकासवादियों ने अपने आपको विकास के साथ जोड़ लिया। इनका कहना था कि समाज का उद्विकास उच्च नैतिक धरातल पर होता है।

उद्विकासवादी सिद्धांतों में सामाजिक डार्विनवादी 19वीं शताब्दी में एक महत्वपूर्ण सिद्धांत बन गया। यह सिद्धांत चार्ल्स डार्विन ने प्राणिशास्त्रीय उद्विकास से बहुत प्रभावित है। इसी कारण इसे डार्विन के नाम पर ही सामाजिक डार्विनवाद कहते हैं। इस सिद्धांत का तर्क था कि जिस प्रकार प्राणिशास्त्रीय सावयव अपने जीवित हरने के लिए बराबर जुझता रहता है, ठीक इसी भांति मानव समाज भी अपने अस्तित्व के लिये जूझते रहते हैं। पश्चिमी देशों में आज के समाजों ने इस संघर्ष में अपने आपको विजयी पाया है इसलिये ये समाज आज भी शीर्ष स्तर पर हैं। कुछ लेखकों ने सामाजिक डार्विनवाद के विचारों को इस तथ्य के साथ जोड़ा है कि गौरे लोगों का प्रभुत्व काले लोगों पर है। इस सिद्धांत में सब मिलकर यह स्थापित किया गया है कि

यूरोप के लोगों की शक्ति बहुत विशाल थी और गरीब पुरुषों का इसमें कोई स्थान नहीं था। ई. 1920 के दशक तक आते-आते सम्पूर्ण यूरोप में सामाजिक डार्विनवाद का पतन हो गया। सामाजिक डार्विनवाद ही क्यों, सम्पूर्ण उद्विकासवाद का पतन यूरोप में हो गया।

सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत

सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत को कई बार चक्रात्मक सिद्धांत भी कहते हैं। इसी तरह के परिवर्तन का स्वरूप किसी वृत्त या घेरे की तरह होता है। परिवर्तन की लम्बी अवधि को ध्यान में रखते हुए प्रायः इसकी व्याख्या चक्रीय रूप में की जाती है। चक्रीय परिवर्तन की प्रक्रिया ऋतुओं में दिखायी पड़ती है। सर्दी के बाद गर्मी, उसके बाद वर्षा और पुनः सर्दी आती है। इस तरह भारतीय भौगोलिक परिस्थितियों के अन्तर्गत मौसम की गति एक चक्र में घूमती है। इसी प्रकार दिन के बाद रात और फिर दिन की प्रक्रिया भी चक्रीय हैं। यह भी प्रायः कहा जाता है कि इतिहास अपनी ही पुनरावृत्ति करता है। “इतिहास की यह धारणा भी जीवन तथा घटनाओं की व्याख्या एक वृत्त के अन्तर्गत करने की चेष्टा करती है।

अरनाल्ड टोयनबी, स्पेंग्लर, लेविस मम फोर्ड, पट्रिम सोरीकीन जैसे दार्शनिक इतिहासवेत्ताओं व समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण वृत्त तथा चक्र के माध्यम से करने की कोशिया की है।” टोयनबी वस्तुतः एक ब्रिटिश इतिहासकार है। उन्होंने अपनी

विचारधारा को इतिहास के अध्ययन नामक पुस्तक के लगभग 11 खण्डों में रखा है। उनका तर्क है कि मनुष्य के जन्म की तरह सभ्यता का जन्म भी होता है, वह फलती-फूलती है और अन्त में उसका विनाश हो जाता है वे तथ्य देते हुए कहते हैं कि दुनिया में कुल 21 सभ्यताएं थीं। इन सभ्यताओं में आज केवल पांच सभ्यताएं जीवित हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सभ्यताएं भी जन्म लेती हैं और लम्बी अवधि में जाकर मर जाती हैं। आज की पश्चिमी सभ्यता टोयनबी का तर्क है, पतन के कगार पर खड़ी है। सभ्यताएं भी बदलती हैं, उनमें भी परिवर्तन आता है और इस परिवर्तन का प्रकृति चक्रीय होती है।

टोयनबी ने प्रश्न रखा कि 21 सभ्यताओं में केवल 5 सभ्यताएं जीवित ही जीवित क्यों हैं। वे मनुष्य के सम्पूर्ण इतिहास की गहरी पड़ताल करते हैं और कहते हैं कि किसी सभ्यता का जन्म तब होता है जब पर्यावरण अपने निवासियों की चुनौती देता है और निवासी उकसा प्रत्युत्तर इस तरह देते हैं। कि इससे नयी चुनौती पैदा देता है और प्रत्युत्तर का सिलसिला जब तक निरन्तर रूप से चलता रहता है, सभ्यता आगे बढ़ती रहती है। जब चुनौती का प्रत्युत्तर नहीं आता तो समझिये कि सभ्यता विनाश के कगार पर आ गयी है उसी चिंता सजा दी गयी है। चक्रीय सिद्धांतवेत्ताओं में स्पेंग्लर का नाम भी महत्वपूर्ण है। स्पेंग्लर ने विभिन्न सभ्यताओं की छानबीन करके यह निष्कर्ष निकाला कि आज पश्चिमी सभ्यता अपने पतन की अवस्था में है। इसकी सांस फूल गयी है। इसकी मौत के बाद किसी अन्य सभ्यता का जन्म होगा। जैसे शरीर क्षणभंगुर है, कुछ वैसे ही सभ्यता का जन्म

लेने के बादइ विनाश को प्राप्त होती है।

सोरोकिन चक्रीय सिद्धांतवेत्ताओं में एक उल्लेखनीय हस्ताखर है। उन्होंने अपने सिद्धांत को पुस्तक के तीन खण्डों में रखा है। उनका सरोकार वृहद स्तर पर होने वाले सांस्कृति परिवर्तन से है। उनका उपागम सांस्कृतिक मनोवृत्तियाँ है। यदि सांस्कृतिक मनोवृत्तियां है। यदि सांस्कृतिक मनोवृत्ति की दृष्टि से देखें तो प्रत्येक सभ्यता का उद्रम होता हैऔर निश्चित रूप से उसका पतन भी होता है इन सांस्कृतिक मनोवृत्तियां में जो परिवर्तन आते हैं उन्हें सोरोकिन ने दः सोपानों में रखा है :

ऐसे परिवर्तन जो समय और स्थान की दृष्टि से अजीब होते है।

ऐसे परिवर्तन जिनकी बराबर पुनरावृत्ति बनी रहती है।

अनुरेखीय परिवर्तन।

घटने-बढ़ने वाले परिवर्तन।

सर्पिल परिवर्तन।

शाखन रूप से होने वाले परिवर्तन।

सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत अत्याधिक जटिल है। वे अपने सिद्धांत की केन्द्रीय इकाई सांस्कृतिक मनोवृत्तियों को मानते है। वास्तव में सोरोकिन जब सामाजिक परिवर्तन के उपागतम को

निश्चित करते हैं तो एक ओर तो वे वस्तु के इन्द्रियज्ञान को लेते हैं और दूसरी ओर उसकी मनोवृत्ति को। इस दृष्टि से वे संस्कृति की तीन श्रेणियां पाते हैं :-

इन्द्रियपरक संस्कृति

संस्कृति का यह वह भाग है जो भौतिक आनन्द प्रदान करता है। यह संस्कृति मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। और इसके माध्यम से व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। भारतीय संस्कृति में इसे भोग कहते हैं। भावात्मक वस्तुएं जैसे सौन्दर्य बोध, कला आदि भी इसी संस्कृति में निहित हैं। संस्कृति के इस भाग का इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जा सकता है। दूसरी ओर वे वस्तुएं जो इन्द्रिय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती, इस संस्कृति की परीधि से बाहर आ जाती हैं। इन्द्रियपरक संस्कृति वस्तुतः जमीन से जुड़ी हुई संस्कृति है, जिसे यथार्थ संस्कृति भी कहा जा सकता है। इस संस्कृति का मूल्यांकन भौतिक सुख के मानदण्ड से किया जाता है। मर्टन की व्याख्या के अनुसार इस संस्कृति का उपभोग अधिक से अधिक तकनीकी साधनों के माध्यम से किया जाता है। प्रौद्योगिकी इन्द्रियपूरक संस्कृति को प्राप्त करने का साधन होती है जिसे आम आदमी उपभोक्ता संस्कृति कहता है, वह वास्तव में इन्द्रियपूरक संस्कृति है।

विचारणात्मक संस्कृति

संस्कृति का यह भाग इन्द्रियपूरक संस्कृति के विपरीत है। इस संस्कृति से जुड़ा हुआ समाज ईश्वरीय व आध्यात्मिक चिन्तन में लग जाता है। यह संस्कृति अंतिम सत्य की खोज में सलंग्न होती है। हमारे सजाम में इस संस्कृति का अनुयायी सन्यास और वानप्रस्थ सिद्धांतों को जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है। विचारात्मक संस्कृति की अवस्था में समाज उपयोगितावाद के स्तर से उपर उठ जाता है, न ही वह नवीन आविष्कारों के साथ अपने आपको जोड़ता है। कला, साहित्य, आर्थिक, राजनीतिक व व्यावहारिक व्यवस्थाएं सभी धर्म, आचार शास्त्र व ईश्वर से ओतप्रोत होती है। संस्कृति के इस भाग को लक्ष्य ऐहिकपरकता से दूर हटकर शाश्वत सत्य की ओर जुड़ा होता है।

आदर्शवादी संस्कृति

सोरोकिन संस्कृति के इस भाग को इन्द्रियपूरक व विचारानात्मक संस्कृति का मिला जुला रूप मानते हैं। इसमें आदर्शवादी संस्कृति और भौतिक सुखाओं तथा आध्यात्मिक चिंतन का समन्वय होता है। इसमें विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य और आध्यात्म किसी की भी उपेक्षा नहीं की जाती। ज्ञान का उपभोग होता है, वह केवल ज्ञान प्राप्ति हेतु नहीं होता।

सोरोकिन ने संस्कृति के इन तीन आयामों को चक्रीय रूप में प्रस्तुत किया है। वे इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए दो बुनियादी प्रश्न रखते हैं : (1) संसार में अंतिम सत्य क्या है? (2) जीवन के सर्वोच्च मूल्य

क्या होने चाहिये? इन प्रश्नों के उन्होंने तीन उत्तर दिये है। पहला उत्तर तो यह है कि जिस किसी की हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभूति होती है, वह सत्य है। इस अर्थ में मोटरगाड़ी, कारखाना, गरीबी, शिक्षा ये सब तत्व सत्य है क्योंकि इनकी इन्द्रियों द्वारा अनुभूति होती है वह सत्य नहीं है। वह तो केवल मोह है, माया है, एक प्रकार का भ्रम है। मकान, कारखाने, जेवर, वस्त्र सभी नष्ट हो जायेंगे। इनमें से कुछ भी शाश्वत नहीं है अतः यह सत्य नहीं हो सकते। सोरोकिन का तीसरा उत्तर यह है कि जो इन्द्रिय बोधक है और वह भी जो इन्द्रियाजीत है, दोनों सत्य है। दूसरे शब्दों में जिसे हमें इन्द्रियों द्वारा देखते है वह भी सत्य है और जिसकी अनुभूति इन्द्रियों द्वारा नहीं होती, वह भी सत्य है।

“दूसरे प्रश्न का उत्तर पहले प्रश्न के उत्तरों पर निर्भर करता है। सत्य इन्द्रिपरक वस्तुओं को ही माना जाता है तो सर्वोच्च मूल्य खाओं, पीओं व मौज उड़ाओं को ले सकते है। वह संस्कृति जिसका आधार ये मूल्य है उसे सोरोकिन ने इन्द्रियपूरक संस्कृति कहा है। इस संस्कृति में समाज व समुदाय भौतिक वस्तुओं के उपभोग व विज्ञान के आधार पर ज्ञान प्राप्ति को महत्व देता है। जब इन्द्रियपूरक बोध को असत्य माना जाता है, व सत्य की परिकल्पना शाश्वत रूप में की जाती है तब सर्वोच्च मूल्य त्याग और इस जगत में पलायन की ओर जाते है। जगत को मिथ्या समझा जाता है अतः व्यक्ति भौतिक उपयोगों से बचकर एकान्त की इच्छा रखते है। भारतीय दर्शन में शंकाराचार्य का दृष्टिकोण इसी प्रकार का था। ऐसे मूल्यों को स्वीकृत करने वाली संस्कृति को सोरोकिन ने विचारणात्मक संस्कृति कहा है।

तीसरे, सत्य ही दोनों ही स्वरूपों में देखा है। जो इन्द्रियपरक बोध है वह भी सत्य है और जो इन्द्रियतीत बोध है वह भी सत्य है। ऐसी संस्कृति में भौतिक जीवन के उपभाग को निर्लिप्त भाव से भोगने के मूल्य सर्वोपरि बन जाते हैं। गीता का कर्म दर्शन, जिसके अन्तर्गत फल की आशा किसये बिना कर्म करने की व्यवस्था है, इस श्रेणी में आएगा। ऐसी संस्कृति को सोरोकिन ने आर्दशवादी संस्कृति कहा है।”

सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत चक्रीय इसलिये है कि मानव संस्कृति के इन भागों को सिलसिले से अपनाता है। आज का समाज और विशेष करके पश्चिमी समाज इन्द्रियपरक संस्कृति की कगार पर खड़ा है। सोरोकिन का कहना है कि संस्कृति के ये प्रकार चक्र की तरह कालान्तर में भी घूमते रहेंगे।

सामाजिक परिवर्तन के एक रेखीय व बहु रेखिक उद्विकासीय सिद्धांत पिछले पृष्ठों में हमने उद्विकास सिद्धांतों का उल्लेख किया है। इनमें अब हम आखिरी सिद्धांत एक रेखिक और बहु रेखिक का उल्लेख करेंगे। एक रेखिक सिद्धांतवेत्ताओं में कॉप्ट, स्पेन्सर और हॉबहाऊस का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। एक रेखिक सिद्धांतवेत्ताओं का महत्व विशेषकर 19वीं शताब्दी में देखने को मिलता है। यदि इस शताब्दी को हम उद्विकासीय सिद्धांतों की शताब्दी कहें तो

अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस उद्विकासवादियों का आग्रह है कि मनुष्य समाज का विकास एक निश्चित रेखा में हुआ है। उन्होंने यह कहा कि दुनियाभर के समाजों के विकास की दशा एक ही रही है। इस एक रेखिक विकास में समाज सामान्य अवस्था से जटिल अवस्था की ओर विकसित हुए हैं। इस एक रेखिक विकास में समाज सामान्य अवस्था से जटिल अवस्था की ओर विकसित हुए हैं। दूसरे शब्दों में यदि कोई समाज उद्विकास के सोपान में ऊपर चढ़ना चाहता है तो उसकी दिशा, उद्विकासवादियों का कहना है, निश्चित है सामान्य से जटिल।

उदाहरण के लिये चाहे यूरोप के समाज में रहें हो या चीन के, उद्विकास के सोपानों में ये सभी समाज पहले कबीले थे, फिर आदिम समाज बने और फिर मध्य समाज। अर्थ हुआ : उद्विकासीय समाज निश्चित रूप से सामान्य से जटिल की ओर बढ़ता है-यांत्रिक अवस्था से सावमयी अवस्था की ओर जाता है। अगस्ट कॉम्प ने सबसे पहली बार बौद्धिक विकास के तीन स्तरों का उल्लेख किया है। ये स्तर इस प्रकार हैं

धार्मिक अवस्था

तात्विच या गुणवादी अवस्था

प्रत्याक्षदी अवस्था

मेलिनोस्की और रेडिक्लिफ ब्राउन ने आदिम समाजों से जुड़ी हुई पर्याप्त एथनिक जानकारी हमारे सामने रखी है। यह तथ्य सामग्री बहुत मूल्यवान है। इस अवस्था में व्यक्ति किसी भी वस्तु का ज्ञान

प्राप्त करने के लिए आर्थिक स्तर पर सोचता था। इस ज्ञान की व्याख्या वह ईश्वर तथा हमारे देश में वेदों के आधार पर करता था। यह विचार और सोच की धार्मिक अवस्था थी। कॉम्प के अनुसार उद्विकास की दूसरी अवस्था तात्विक थी। इस अवस्था में पहुंच कर समाज वस्तुओं को उनके गुण-दोष के आधारों पर देखता था। उद्विकास की सामाजिक प्रक्रिया में प्रत्यक्षवाद आया। प्रत्यक्षवाद प्रस्तुत: विज्ञानवाद है। इसका आग्रह है कि जिस भांति समाज में वस्तुओं का उद्विकास होता है, वैसे ही सामाजिक संस्थाओं का भी उद्विकास होता है। 19वीं शताब्दी के एक रेखिक उद्विकास का महत्व अधिक दिन नहीं चला। हाल के पिछले कुछ दशकों में एक रेखिक उद्विकास सिद्धांत की कटु आलोचना हुई। यह समझा जाने लगा कि सभी समाजों का विकास एक ही रास्ते में हुआ हो, ऐसा नहीं है। सच्चाई तो यह है कि प्रत्येक समाज के विकास का रास्ता नहीं रहा है। इतिहास बताता है कि यूरोप में इसकी समाप्ति बहुत पहले हुई। बहुरेखीय सिद्धांतवेत्ताओं में लेन्सकी और लेन्सकी ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य पर जोर दिया है कि समाजों के विकास की रेखा एक ही नहीं होती, कई रेखाएं होती हैं-कई पथ होते हैं। इस विचारधारा के अनुसार विभिन्न प्रकार के समाजों की पहचान की जा सकती है और इन समाजों के स्तरीकरण के आधार पर सरलता से जटिलता विभिन्न श्रेणियों में रखा जा सकता है।

बहुरेखिक सिद्धांतवेत्ताओं का एक और तर्क यह भी है कि सामाजिक परिवर्तन का केन्द्रीय तत्व यह है कि समाज के सदस्य कितनी

तत्परता से पर्यावरण के साथ अनुकूलन करते हैं। इस अनुकूलन की प्रक्रिया में यह संभव है कि कुछ समाज सरलता से सफल हो जाएं और कुछ को सफल होने में लम्बी अवधि लग जायें। इसी कारण बहुरेखयी सिद्धांतवेत्ता एक रेखिक सिद्धांतों की प्रासंगिकता को संदेह की दृष्टि से देखते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के पारसंस का उद्विकासीय सिद्धांत

उद्विकासीय सिद्धांतों की श्रृंखला में पारसंस का उद्विकासीय सिद्धांत हाल के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांतों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सामान्यता उद्विकासवादी सिद्धांतवेत्ताओं का संदर्श प्रकार्यात्मक होता है। पारसंसस भी प्रकार्यवादी है। उनका सुझाव है कि सामाजिक उद्विकास और कुछ न होकर प्राणिशास्त्रीय उद्विकास है। सामाजिक और प्राणिशास्त्रीय उद्विकास को समझने के लिए पारसंस ने उद्विकासीय सार्वभौम की अवधारणा को रखा है। इस अवधारणा का तर्क यह है कि विकास के कुछ ऐसे प्रकार हैं जो विभिन्न दशाओं में सभी समाजों को देखने को मिलते हैं। विकास के इन प्रकारों को ही पारसंस उद्विकासीय सार्वभौम कहते हैं। इसका सामान्य अर्थ यह है कि कुछ सामाजिक संस्थाएं इतिहास के क्रांतिकारी करवटों के लेने पर भी जीवित रहती हैं। इन्हीं को पारसंस उद्विकासीय सार्वभौम कहते हैं।

पारसंस ने सार्वभौम की पहचान की है। ये सार्वभौम सभी समाजों में

देखने को मिलते हैं। इन सार्वभौमों ने पहला सार्वभौम, उदाहरण के लिये दृष्टि है। दृष्टि का अर्थ वस्तुओं को देखने की शक्ति है। यह दृष्टि मनुष्यों में नहीं, सम्पूर्ण पशु दुनिया में देखने को मिलती है। देखने के इस सामर्थ्य ने पशु और मनुष्य दोनों को अनुकूलन करने की शक्ति दी है। मनुष्य विकास की अवस्था में सबसे अधिक विकसित जानवर है। उसमें देखने की जो क्षमता है वह उसे अधिक अनुकूलन करने की शक्ति देता है।

सार्वभौम तत्वों से दूसरा तत्व संचार का है। पारसंस कहते हैं कि संचार सभी मनुष्य सांस्कृतियों में देखने को मिलता है। बिना भाषा या बोली के संचार नहीं हो सकता इसलिये सभी समाजों में भाषा सार्वभौम है जो उद्विकास को विकास के रास्ते की ओर ले जाता है। पारसंस कहते हैं कि तीन और सार्वभौम हैं जो बहुत प्राचीन हैं और सभी समाजों में पाये जाते हैं। ये सार्वभौम हैं, धर्म, नातेदारी और प्रौद्योगिकी। इस तरह कुछ मिलाकर पारसंस कहते हैं कि सभी समाजों में चार सार्वभौम पाये जाते हैं : (1) दृष्टि (2) संचार (3) भाषा (4) धर्म (5) नातेदारी, और (6) प्रौद्योगिकी। ये सार्वभौम इतने महत्वपूर्ण और प्रभावशाली हैं कि इनके अभाव में सामाजिक उद्विकास आगे नहीं बढ़ सकता।

पारसंस के उद्विकास की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि सामाजिक उद्विकास का कोई भी विश्लेषण तब तक अधूरा है जब तक हम सरल

से जटिल की प्रक्रिया को नहीं समझते यानी यह नहीं जानते कि समाज सतीतयता के स्तर से विजातीयता की ओर बढ़ता है। समाज ज्यों-ज्यों सामाजिक उद्विकास के स्तर की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों उसमें अधिक से अधिक स्तरीकरण आता है। स्तरीकरण का मतलब हुआ समाज का सरल स्तर से जटिल स्तर की ओर बढ़ना।

पारसंस ने समाज के उद्विकास के सोपानों की पहचान की है। पहला सोपान जैसा कि हमने उपर कहा है कि उद्विकासवादी सार्वभौमों का है। उद्विकासवादी सार्वभौमों के लक्षण भी पारसंस ने पहचान लिये है। उद्विकासवादी सोपान का दूसरा स्तर उच्चतम आदिम समाज का है। इस प्रकार के समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था समाप्त हो जाती है और समाज समतावादी बन जाता है। उच्चतर आदिम समाज में प्रायः एथनीक यानी संस्कृति और वर्ग पाये जाते है। ये वर्ग उत्पादन व्यवस्था को निश्चित करते है और इस तरह लोग अपना जीवनयापन करते है। उच्चतर समाज में धर्म तो होता पर इसका संबंध सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं से नहीं होता। उद्विकास के दौर में पारसंस कहते है। मध्यस्तरीय समाज का उद्गम होता है। इस तरह के मध्यस्तरीय समाजों को इतिहासकार सभ्यता का परम्परागत समाज के नाम से पुकराते है। ऐसे समाजों में मिस्त्र, चीन और भारत का नाम लिया जाता है। इन सभ्यताओं में या मध्यस्तरीय समाजों में लिखना और पढ़ना आ जाता है। धर्म नयी दिशाओं को ग्रहण कर लेता है, इसका अर्थ राजनीति से जुड़ा जाता है। राजनैतिक नेतृत्व का विकास सरकारी प्रशासन के साथ हो जाता है।

पारसंस के उद्विकासीय सिद्धांत उंचा स्थान औद्योगिक समाजों का है ऐसे समाजों में आन्तरिक विभेदीकरण या स्तरीकरण अत्यधिक मात्रा में होता है। इन समाजों में आर्थिक और राजनैतिक जीवन एक दूसरे से बहुत अधिक पृथक होते हैं। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था इस समाज में एक व्यापक बन जाती है। पारसंस के सैद्धांतिक विश्लेषण में समाजों का उद्विकास जिस तरह से हुआ है वह सरल से जटिल की ओर है।